
इकाई 4 मन्दिर वास्तु के विभिन्न अङ्ग

इकाई की संरचना

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 मन्दिर शब्द का अर्थ एवं व्युत्पत्ति
- 4.3 मानव जीवन में मन्दिर की आवश्यकता
- 4.4 मन्दिर निर्माण का फल
- 4.5 देवताओं का निवास स्थान
- 4.6 देवालय के योग्य भूमि कथन
 - 4.6.1 भूमि चयन व भूमि परिक्षा
 - 4.6.2 भूमि खनन विधि
- 4.7 देवालय का विधान
- 4.8 प्रासाद निर्माण में प्रयुक्त चार शिलाओं के लक्षण
 - 4.8.1 आधार शिलाओं का कथन
- 4.9 मन्दिर वास्तु के विविध अङ्ग
 - 4.9.1 जगती
 - 4.9.2 गर्भगृह
 - 4.9.3 शिखर
 - 4.9.4 कलश
- 4.10 गोपुर विधान
- 4.11 सारांश
- 4.12 पारिभाषिक शब्दावली
- 4.13 बोध प्रश्नों के उत्तर
- 4.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप यह ज्ञान कर पायेंगे :

- मन्दिर किसे कहते हैं तथा मानव जीवन में उसकी आवश्यकता क्यों है?
- आप मन्दिर शब्द का अर्थ व उसका सामान्य परिचय जान पायेंगे।
- मन्दिर निर्माण में उपयुक्त भूमि व शिलाओं के बारे में जानेंगे।
- मन्दिर निर्माण का फल तथा देवताओं के निवास स्थान से परिचित होंगे।

- आप मन्दिर वास्तु के विविध अंगों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

4.1 प्रस्तावना

मानव आदिकाल से ही एक जिज्ञासु प्राणी है। यह बात ऋग्वेद का नासदीय सूक्त प्रमाणित करता है।

को आद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।

अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव।।

वेद का यह मन्त्र पुष्ट कर रहा है कि कौन इस बात को वास्तविक रूप से जानता है और कौन इस लोक में सृष्टि के उत्पन्न होने के विवरण को बता सकता है कि यह विविध प्रकार की सृष्टि किस उपादान कारण से और किस निमित्त कारण से उत्पन्न हुई? देवता भी इस विविध प्रकार की सृष्टि के उत्पन्न होने के बाद के हैं। अतः देवगण भी अपने से पहले की बात के विषय में नहीं बता सकते इसलिए कौन मनुष्य जानता है कि किस कारण यह सारा संसार उत्पन्न हुआ अतः इस इकाई में आप देवताओं की स्थापना विषयक वास्तु के आधारभूत सिद्धान्तों के अध्ययन के बाद उसके विभिन्न अंगों का वर्णन करेंगे।

4.2 मन्दिर शब्द का अर्थ एवं व्युत्पत्ति

देवानां आलयः देवालयः अर्थात् देवताओं का निवास स्थान। देवालय शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख "शतपथब्राह्मण" में देखने को मिलता है। जिसे हम विभिन्न पर्याय नामों से भी जानते हैं यथा-प्रसाद, देवायतन, देवालय, देवनिकेतन, देवदरवार, देवकुल, देवागार, देवरा, देवकोष्ठक, देवस्थान, देवगृह, ईश्वरालय, मन्दिर इत्यादि। इसी प्रकार मन्दिर शब्द संस्कृत भाषा के मन्द शब्द में किरच् प्रत्यय लगकर बना है। मन्द्यते सुप्यते अत्र मन्दिरम् इति। अर्थात् यह शब्द शिथिल व विश्रान्ति का वाचक होने से मूलतः पहले गृह के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु कालान्तर में अर्थान्तरित होकर देवगृह के लिए रूढ हो गया। अनेक विचारक इसकी व्युत्पत्ति मन शब्द से निकालते हैं, जिसका आशय आध्यात्मिक मनन व चिन्तन है। किन्तु व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से यह सम्मत नहीं है।

4.3 मानव जीवन में मन्दिर की आवश्यकता

मानव का परम लक्ष्य मोक्ष है अतः उसके लिए वह सतत प्रयत्नशील भी रहता है। इस लक्ष्य का प्रथम सोपान धर्म है और धर्म के मार्ग पे चलने वाला मानव अनेक प्रकार के धार्मिक कार्य करता रहता है। इनके अतिरिक्त उसे अपने आराध्य देव के पूजनार्थ व उनसे अपने मन की भावनाओं को व्यक्त करने हेतु भगवान के विग्रह की आवश्यकता भी महसूस होती है अतः वह मन्दिर निर्माण करता है। अर्थ-काम व मोक्ष की अभिलाषा रखने वाला मानव देवताओं को अपनी इष्टपूर्ति के लिए पूजा-अर्चना करता है तथा मन्दिर में जाकर अपनी मनोकामना ईश्वर के सम्मुख रखता है। इसीलिए इस भूलोक में मन्दिर का महत्व इतना अधिक है। परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्ति अथवा मोक्ष प्राप्ति के मुख्यतः तीन मार्ग होते हैं- १-ज्ञानमार्ग, २-कर्ममार्ग एवं ३-भक्तिमार्ग इनमें से भक्तिमार्ग पर चलने में सहायक उपकरण के रूप में मन्दिर अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। मन्दिर केवल देवताओं का निवास मात्र नहीं अपितु साक्षात् देवस्वरूप ही होता है।

जैसा कि अग्निपुराण में कहा गया है-

प्रासादं पुरुषं मत्वा पूजयेद् मन्त्रवित्तमः।

एवमेव हरिः साक्षात् प्रासादत्वेन संस्थितः॥

इसीलिए मन्दिर का स्वरूप लेटे हुए पुरुष के समान कल्पित किया जाता है। जिसमें गोपुर पावं, सभामण्डप उदरभाग तथा गर्भगृह मुख्यभाग होता है। मन्दिर प्रकल्पना में उर्ध्वाधर रूप में भी पुरुषाकृति ही जान पड़ती होती है। वहाँ जगती पैर, उसके ऊपर जंघा रूपी अधिष्ठान, जिस भाग से गर्भगृह के अन्दर का भाग दिखाई देता है वह कटि, मन्दिर के अन्दर का भाग उदर तथा देवालय का शिखर शिर होता है। अतः मन्दिर केवल भवनमात्र नहीं है अपितु अमूर्त परमेश्वर का प्रत्यक्ष मूर्तरूप भी है। इसी कारण परमात्मा के प्रतीकस्वरूप मूर्ति के दर्शन पूजन के साथ ही देवालय की प्रदक्षिणा का विधान भी हमारे शास्त्रों में है वर्णित है। बृहत्संहिता में आचार्य दैवज्ञ वराहमिहिर लिखते हैं-

कृत्वा प्रभूतं सलिलमारामान् विनिवेश्य च।

देवतायतनं कुर्याद् यशोधर्मभिवृद्धये॥

अर्थात् अपने यश और धर्म की अभिवृद्धि चाहने वाले मनुष्य को जल से युक्त जलाशय का निर्माण, वृक्षारोपण व वाटिका आदि बनवाकर देव-मन्दिर का निर्माण करना चाहिए।

इष्टकर्म अर्थात् यज्ञ, अनुष्ठान आदि करने तथा पूर्वकर्म अर्थात् वापी, कूप, तडाग आदि बनवाने से जिन-जिन उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है, उन लोकों की आकांक्षा करने वाले मनुष्य को देवालय का अवश्य निर्माण करवाना चाहिए। क्योंकि इससे दोनों लोकों की प्राप्ति होती है। अतः लौकिक सुख और परलौकिक सुख को चाहने वालों को देवालय-मन्दिर का निर्माण अवश्य कराना चाहिए।

4.4 मन्दिर निर्माण का फल

जो गृहस्थ अपनी क्षमता के अनुरूप भगवान का मन्दिर बनवाता है, वह असीम पुण्य का अर्जन करता है। तथा वर्तमान एवं भविष्य दोनों को सुखी करता है। अनेक जन्म के पुण्य संचय से यह अवसर उपस्थित होता है कि व्यक्ति भगवान का मन्दिर बनवाये। शिल्पशास्त्र में भी नवीन मन्दिर के निर्माण करवाने वाले उपासक को पुण्यार्जन का उल्लेख उपलब्ध होता है-

पितामहस्य पुरतः कुलान्यष्टौ तु यानि वै।

तारयेदात्मना सार्धं विष्णोर्मन्दिरकारकः।

अपि नः सत्कुले कश्चित् विष्णुभक्तो भविष्यति॥

ये ध्यायन्ति सदा भक्त्या करिष्यामो हरेर्गृहम्।

तेषां विलीयते पापं पूर्वजन्मशतोसवम्॥

सुरवेश्मनि यावन्तो द्विजेन्द्राः परमाणवः।

तावद् वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥

अर्थात् जो व्यक्ति भगवान विष्णु का मन्दिर बनवाता है, वह अपने को तो तारता ही है अपितु

अपने पितामह से आगे की आठ पीढ़ियों को भी तार देता है। जो मन में ऐसी इच्छा करता है कि हमारे वंश में कोई विष्णुभक्त उत्पन्न हो तथा मैं विष्णु का मन्दिर बनवाऊंगा ऐसा संकल्प करता है तो उस व्यक्ति के एक सौ जन्म के पाप नष्ट हो जाते हैं।

4.5 देवताओं का निवास स्थान

सलिलोद्यानयुक्तेषु कृतेष्वकृतकेषु च।
स्थानेष्वेतेषु सान्निध्यमुपगच्छन्ति देवताः॥

अर्थात् देवता उस स्थान पर जाते या निवास करते हैं, जो स्थान जलाशय के समीप स्थित हो अथवा उपवन के समीप। फिर चाहे वह कृत्रिम हो अथवा प्राकृतिक। देवता ऐसे स्थानों पर ही निवास करते हैं। इसीलिए मन्दिर निर्माण कराने वाले मनुष्य को उक्त स्थानों के आस-पास ही मन्दिर का निर्माण करवाना चाहिए ऐसे प्राचीन आचार्यों का मत प्राप्त होता है। एतदर्थ मन्दिर वास्तु के विभिन्न अङ्गों में स्थान का विशेष महत्व होता है। स्थानों की विशेषता के सन्दर्भ में आचार्य आगे बताते हैं कि –

सरः सु नलिनीछत्रनिरस्तरविरश्मिषु।
हंसासंक्षिप्तकह्वारवीथीविमलवारिषु॥
हंसकारण्डवक्रौञ्चचक्रवाकविराविषु।
पर्यन्तनिचुलच्छायाविश्रान्तजलचारिषु॥

अर्थात् जिस सरोवर में कमल रूप छत्र से सूर्य किरण दूर किये गए हों, जहां हंसों के कंधों से प्रेरित श्वेत से बने हुए मार्गों में विमल या स्वच्छ जल हों, जिसमें हंस, कारण्डव, क्रौञ्च, चक्रवाक आदि पक्षियों द्वारा शब्द किया जा रहा हो, तथा जहां सरोवर के किनारे स्थित निचुल वृक्षों की छाया में जल जन्तु भी विश्राम करते हों, ऐसे स्थानों पर देवता निवास करते हैं। इसी प्रकार स्थलों में भी देवताओं के निवास स्थान के सन्दर्भ में वर्णन मिलता है जैसे –

क्रौञ्चकाञ्चीकलापाश्च कलहंसकलस्वराः।
फुल्लतीरद्रुमोत्तंसाः शफरीकृतमेखलाः॥
फुल्लतीरद्रुमोत्तंसाः सङ्गमश्रोणिमण्डलाः।
पुलिनाम्युन्नतोरस्था हंसवासाच निम्नगाः॥

अर्थात् क्रौञ्च पक्षी की तरह जिनका कांची कलाप, कलहंसों की तरह जिनका मधुर स्वर, जल ही जिनका वस्त्र है, मत्स्य जिनका मेखला है, किनारे पर स्थित पुष्प सम्पन्न वृक्ष जिनका कर्णपूर है, जल और स्थल के संगम रूप जिनका श्रोणिमण्डल, पुलिन की तरह जिनके उठे स्तन तथा हंस ही जिनका हास्य है, इस प्रकार की नीचे की ओर बहने वाली नदियों के समीपवर्ती स्थानों में देवता निवास और विहार करते हैं।

वनोपान्तनदीशैलनिर्झरोपान्तभूमिषु।
रमन्ते देवता नित्यं पुरेषूद्यानवत्सु च॥

वन, नदी, पर्वत और झरनों के निकटवर्ती स्थानों तथा वाटिकाओं से सुसम्पन्न नगरों में देवता सदा निवास और विहार करते हैं। इस प्रकार देवताओं के निवास स्थान का चयन के बाद

4.6 देवालय के योग्य भूमि कथन

भूमयोब्राह्मणादीनां याः प्रोक्ता वास्तुकर्मणि।

ता एव तेषां शस्यन्ते देवतायतनेष्वपि॥

वास्तु विचार के प्रसङ्ग में यज्ञ, तप, ज्ञान, रक्षा, व्यवसाय आदि कार्यों के लिए जैसी भूमि शुभ कही गई है, वैसी ही भूमि देवालय के लिए।

4.6.1 भूमि चयन व भूमि परिक्षा

मन्दिर अथवा प्रासाद निर्माण का एक अभिन्न अङ्ग है भूमि चयन व भूमि परीक्षा। वास्तुशास्त्रविदों ने भूमि का चयन व भू परीक्षा के लिए अधिक जोर दिया है। क्योंकि जिस भूमि में प्रासाद व मन्दिर का निर्माण होना है वह भूमि श्रेष्ठता के साथ-साथ प्रासाद योग्य भी होनी अत्यन्त आवश्यक है। अतः वास्तुशास्त्र के प्रत्येक ग्रन्थ में भूमि की परिक्षा के बारे में उल्लेख मिलता है। समराङ्गणसूत्रधार ग्रन्थ में आचार्य लिखते हैं-

कुंकुमागरुकर्पूरस्पृक्कैलाचन्दनादिभिः।

सुगन्धा मिश्रितैरेभिः पृथक्स्थैर्वा वसुन्धरा॥

कल्हारपाटलाम्भोजमालती चम्पकोत्पलैः।

स्थलाम्बुप्रभवैश्चान्यैः सुगन्धा कुसुमैस्तथा॥

गोमूत्रगोमयक्षिरदधिमध्वाज्यगन्धभाक्।

समानगन्धा मदिरामाध्वीकेभमदासवैः॥

शालिपिष्टकगन्धैश्च धान्यगन्धैश्च या तथा।

प्रशस्ताखिलवर्णानामिदृग् गन्धा वसुन्धरा॥

अर्थात् जिस भूमि से स्वतः सुगन्ध प्रस्फुटित हो वह भूमि मन्दिर निर्माण के लिए अत्यन्त शुभ मानी जाती है। क्षेत्र का चुनाव करते समय हाथ में मिट्टी उठाकर उसको सूंघना चाहिये। स्वाद जानने के लिए उसे चखने का भी विधान है।

रोली, अगर, कर्पूर, चन्दन मिश्रित गन्ध की तरह यदि भूमि से गन्ध वासित हो तो वह वसुन्धरा शुभ मानी गयी है।

कनैल (कनेर) गुलाब, कमल, मालती, चम्पा एवं अन्य सुगन्धित पुष्प की तरह वासित दमकती भूमि कल्याणकारी मानी गयी है।

जिस भूमि से गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी के गन्ध की तरह सुगन्ध निकले वह शुभ फलदाई होती है।

भवन, प्रासाद, दुर्ग या अन्य भवन निवेश से पूर्व भूमि की परीक्षा और उसका लक्षण जानना अत्यन्त आवश्यक होता है। क्योंकि स्थापत्य तथा शिल्प का आधार भूमि ही है अतः भूमि की परीक्षा करके ही उस स्थान पर मन्दिर अथवा प्रासाद का निर्माण करना चाहिये।

4.6.2 भूमि खनन विधि

उक्त सभी लक्षणों से युक्त भूमि का चयन के पश्चात् भूमि खनन भी प्रासाद निर्माण का एक अभिन्न अङ्ग है। जिस भूमि पर मन्दिर या प्रासाद बनाना होता है उस भूमि की पहले परीक्षा कर ली जाती है कि यह भूमि जीवित है अथवा नहीं। इस भूमि पर प्रासाद बनाने से वह भवन फलिभूत होगा या नहीं। वास्तुविदों ने अपने अल-अलग मत के अनुसार भूमि खनन विधि को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। हम यहाँ सक्षिप्त रूप में उन विधियों को समझने का प्रयास करते हैं।

- जिस भूखण्ड पर मन्दिर निर्माण करना हो वहाँ पर निवेश कर्ता के हाथ से एक हाथ लम्बा, चौड़ा व गहरा गड्ढा खोदना चाहिए। गड्ढे से निकली मिट्टी को पुनः उस गड्ढे में भर दें। यदि गड्ढा पूरी तरह से भरने के बाद मिट्टी बच भी जाय तो वह उत्कृष्ट भूमि, केवल गड्ढा मात्र उस मिट्टी से भर पाये तो सामान्य भूमि और गड्ढा भरने के लिए मिट्टी कम पड जाय तो वह निषिद्ध भूमि मानी गयी है।
- ज्योतिर्निबन्ध ग्रन्थ में लिखा है की रात में पूर्वोक्त माप का खात खोदकर जल से भर दें। यदि प्रातः काल तक उसमें जल अवशेष रहे तो वह भूमि द्विकारक, किचड दिखे ते सामान्य और यदि उसमें प्रातः काल तक दरार अथवा जमीन फटी हुयी हो तो नाश करने वाली समझना चाहिए। उक्त खनन विधि के पश्चात् हम देवालय के विधान को समझने का प्रयास करते हैं।

4.7 देवालय का विधान

देवालय के लिए सदा ही वास्तुपद विचार का चौंसठ पद वास्तु बनाना चाहिए और उसमें मध्यम द्वार सभी दिशाओं में स्थित होना, प्रशस्त अच्छा माना गया है।

यो विस्तारो भवेद् यस्य द्विगुणा तत्समुन्नतिः।
उच्छ्रायाद् यस्तृतीयांशस्तेन तुल्या कटिः स्मृता॥

विस्तारार्थं भवेद् गर्भो भित्तयोऽन्याः समन्ततः।
गर्भपादेन विस्तीर्णं द्वारं द्विगुणमुच्छ्रितम्॥

उच्छ्रायात् पादविस्तीर्णा शाखा तद्बुदुम्बरः।
विस्तारपादप्रतिमं बाहुल्यं शाखयोः स्मृतम्॥

त्रिपञ्चसप्तनवभिः शाखाभिस्तत् प्रशस्यते।
अघः शाखाचतुर्भागे प्रतीहारौ निवेशयेत्॥

शेषं मङ्गल्यविहगैः श्रीवृक्षैः स्वस्तिकैर्घटैः।
मिथुनैः पत्रवल्लीभिः प्रमथैश्चोपशोभवेत्॥

द्वारमानाष्टभागोना प्रतिमा स्यात् सपिण्डिका।
द्वौ भागौ प्रतिमा तत्र तृतीयांशश्च पिण्डिका॥

अर्थात् देवालय के विस्तार से दोगुनी उसकी ऊँचाई तथा ऊँचाई का तृतीयांश कटि भाग होता है। देवालय का कटिभाग वह है जिस स्थान से सीढ़ी के ऊपरी भाग का प्रारम्भ किया जाता है। विस्तार का अर्द्धांश गर्भ और शेष सभी दिशाओं में भीत होती है। गर्भ के चतुर्थांश तुल्य द्वार का विस्तार तथा उसका द्विगुणित तुल्य द्वार की ऊँचाई होती है। उस द्वार की ऊँचाई के समान प्रमाण उसकी शाखा अर्थात् चौखट का लम्बवत् किनारा और उदुम्बर अर्थात् चौखट के ऊपर की लकड़ी की चौड़ाई होती है। यहाँ पर शाखा के चतुर्थांश का चतुर्थांश के समान शाखाओं की मोटाई ली जाती है। शाखाओं की चौड़ाई के बीच में तीन, पाँच, सात अथवा नौ शाखायें होने से द्वार उत्तम होता है। शाखाद्वय के नीचे के चतुर्थांश में दो प्रतिहार अर्थात् नन्दी, दण्ड आदि की मूर्तियाँ खुदवानी चाहिए। शाखाओं के तीन चतुर्थांश भागों को हंस आदि शुभ पक्षी, बेल, स्वस्तिक, कलश, पुरुष-स्त्री का जोड़ा, पत्रों और लताओं आदि से सुन्दर बनाना चाहिए। द्वार की ऊँचाई में उसका अठवाँ भाग छोड़कर जितना शेष हो उतने की पिण्डिका अर्थात् देवता स्थापन की पीठिका होती है, जिसको लेकर देवमूर्ति की ऊँचाई होती है। पिण्डिका से मूर्ति की ऊँचाई के तीन भागों में से दो भाग के समतुल्य ऊँची मूर्ति तथा एक भाग के समतुल्य पिण्डिका बनानी चाहिए। इस प्रकार का प्रमाण सभी वर्णों के देवालय के लिए जानना चाहिए।

4.8 प्रासाद निर्माण में प्रयुक्त चार शिलाओं के लक्षण

वास्तु पूजा करने के उपरान्त विधि पूर्वक शिलान्यास करना चाहिए। अब प्रारम्भ में उत्तम शिलाओं के लक्षण संक्षेप में समझते हैं-

जिस प्रकार की भूमि गृहनिर्माण के लिए प्रशस्त बताई गयी है, उसी प्रकार की भूमि मन्दिर निर्माण के लिए भी प्रशस्त होती है। गृह निर्माण के लिये शिलान्यास की विधि में पाँच शिलाओं का स्थापन होता है, लेकिन प्रासाद निर्माण में उत्तम लक्षणों से युक्त चार शिलाओं की आवश्यकता होती है। इन शिलाओं का नाम नन्दा, भद्रा, जया तथा पूर्णा होता है-

या भूमिः शस्यते गेहे सा प्रासादविधौ तथा।
यो विधि गृहनिर्माणे शिलान्यासस्य कर्मणि॥

प्रासादादिषु संज्ञेयाश्चतस्त्रस्तु शिलास्तथा।
नन्दा भद्रा जया पूर्णा आग्नेयादिषु विन्यसेत्॥

ये चारों शिलाएं मनोहर चारों ओर से सम तथा एक हाथ लम्बी तथा लम्बाई के समान ही चौड़ी तथा त्रिभाग (अर्थात् आठ अंगुल) मोटी होनी चाहिए। (हाथ=24 अङ्गुल का 1/3 = 8 अङ्गुल) यह शिलाओं अथवा इष्टिकाओं माप कहा गया है। तथा इनका रूप उत्तम होना चाहिए।

शिला वाऽपीष्टका वापि चतस्रो लक्षणान्विताः।

प्रासादादौ विधानेन न्यस्तव्याः सुमनोहराः॥

चतुरस्राः समा कृत्वा समन्ताद् हस्तसम्मिताः॥

विस्तारस्य त्रिभागस्य बाहुल्येन सुसम्मिताः।

ये चार शिलाएं पूर्ण और समतल, चिकनी, सुसम, कुश, दूर्वा, ध्वज, चामर आदि के चिन्हों से अंकित हो। तथा पक्षी, मृग, वृष, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त आदि के चिन्हों से युक्त शिलाएं एवं इष्टिकाएँ उत्तम होती हैं। जो शिलाएँ अथवा इष्टिकाएँ पद्म आदि लक्षणों से युक्त होती हैं वह कल्याणकरिणी और समस्त सिद्धियों को देने वाली होती है। जो गाय, घोड़ा आदि के खुरों से अंकित हो वे धान्य तथा सुखदायी होती है। जैसे कहा भी गया है-

सम्पूर्णाः सुतलाः स्निग्धाः सुसमा लक्षणान्विताः।

कुशदुर्वाङ्किता धन्याः सध्वजच्छत्र चामराः॥

सकुशास्तरोपेता कूर्ममत्स्यफलान्विताः।

हस्तिदर्पणवज्राङ्काः प्रशस्तद्रव्यलाञ्छिताः॥

पद्मादिलक्षणोपेता शिवा धन्याः सुखावहाः॥

अर्थात् जिन ईंटों पर या शिलाओं पर मांसाहारी पक्षियों तथा पशुओं के पैरों के चिन्ह अंकित हों, जो किनारों पर टूटी-फूटी हों तथा बहुत पुरानी, अधिक लंबी या छोटी हों, जिनमें गड्ढे या छेद आदि हों, जो विवर्ण, अधपकी तथा उत्तम लक्षणों से रहित हों उन्हें मन्दिर निर्माण व गृह निर्माण कार्य में त्याग देना चाहिए जैसे कहा भी गया है-

क्रव्याद् मृगपादाङ्काः न शस्ता पक्षिणस्तथा।

दिङ्गुखा बहुजीर्णा च दीर्घा ह्रस्वाः क्षतान्विताः॥

विवर्णाः स्फुटिता भग्नाः सन्त्याज्याः लक्षणाच्युताः।

जो शिलाएँ शुभ प्राणियों के चिन्हों से अंकित प्रशस्त द्रव्य से चिन्हित तथा शुभ लक्षणों से युक्त होती है उनको सुखदायक जानना चाहिए। शिलाओं को एक वर्णवाली तथा अच्छी तरह पकी हुई होना चाहिए। बहुत जीर्ण इष्टिकाएँ त्याज्य होती हैं। कोयला आदि से युक्त काले रंग की किरकिरी तथा कंकड़ से युक्त फूटी हुई तथा विषम इष्टिकाओं का प्रयत्न पूर्वक त्याग कर देना चाहिए।

नन्दादि चारों शिलाएँ उचित प्रमाण की, लाल रंग की, चौकोर, मनोरम, गृह के मान के अनुकूल, अंगुल आदि के मान से युक्त होनी चाहिये। इन शिलाओं का उपयोग पत्थरों से बनने वाले प्रासाद में करना चाहिए।

4.8.1 आधार शिलाओं का कथन

जो मन्दिर ईंटों का बना हो, उसमें आधार शिला भी नन्दा आदि शिलाओं के आकार एवं प्रमाण की ईंटों से ही बनानी चाहिए। वह आधार नामक शिला सुदृढ़ तथा मनोहर होनी चाहिए पत्थरों से बनने वाले मन्दिर में आधारशिला भी पत्थर की ही होना चाहिए तथा ईंट वाले मन्दिरों में ईंटों की ही बनानी चाहिए।

4.9 मन्दिर वास्तु के विविध अङ्ग

वास्तुशास्त्र के अनुसार देवमन्दिर के ब्रह्मसूत्र या उत्सेध की दिशा में नीचे से ऊपर की ओर उठते हुए कई भाग होते हैं जैसे-

- १- जगती
- २- अधिष्ठान
- ३- गर्भगृह
- ४- शिखर
- ५- ग्रीवा
- ६- आमलक
- ७- कलश
- ८- ध्वज

4.9.1 जगती

जगती मन्दिर निर्माण के लिए ऊँचा चबूतरा होता है जिसे प्राचीन काल में मण्ड भी कहा जाता था। इसे ही आजकल कुर्सी कहते हैं। इसकी ऊँचाई लम्बाई और चौड़ाई गर्भगृह के अनुसार नियत की जाती है। जगती के ऊपर कुछ सीढ़ियाँ बनाकर अधिष्ठान की ऊँचाई तक पहुँचा जाता था तथा इसके बाद का भाग गर्भगृह होता है।

4.9.2 गर्भगृह

जिसमें देवताओं की मूर्ति स्थापित की जाती है। गर्भगृह ही मन्दिर का मुख्य भाग होता है। यह जगती या मण्ड के ऊपर बना होने के कारण मंडोवर भी कहलाता है। गर्भगृह के एक ओर मन्दिर का द्वार तथा तीन ओर भित्तियों का निर्माण होता है। प्रायः द्वार को बहुत अलंकृत बनाया जाता था उसके स्तंभ कई भागों में बँटे होते थे। प्रत्येक बाँट को शाखा कहते थे। द्विशाख, त्रिशाख, पंचशाख, सप्तशाख, नवशाख तक द्वार के पार्श्वस्तंभों का वर्णन मिलता है। इनके ऊपर प्रतिहारी या द्वारपालों की मूर्तियाँ अंकित की जाती हैं। एवं प्रमथ, श्रीवक्ष, फुल्लावल्ली, मिथुन आदि अलंकरण की शोभा के लिए बनाए जाते हैं। गर्भगृह के द्वार के उत्तरांग या सिरदल पर एक छोटी मूर्ति बनाई जाती है, जिसे ललाट बिम्ब कहते हैं। प्रायः यह मन्दिर में स्थापित देवता के परिवार की होती है; जैसे विष्णु के मन्दिरों में या तो विष्णु के किसी अवतार विशेष की या गरुड़ की छोटी मूर्ति बनाई जाती है। गुप्तकाल में मन्दिर के पार्श्वस्तंभों पर मकरवाहिनी गंगा और कच्छपवाहिनी यमुना की मूर्तियाँ अंकित की जाने लगीं।

गर्भगृह के तीन ओर की भित्तियों में बाहर की ओर जो तीन प्रतिमाएँ बनाई जाती हैं, उन्हें रथिकाबिम्ब कहते हैं। ये भी देवमूर्तियाँ होती हैं जिन्हें गर्भगृह की प्रदक्षिणा करते समय प्रणाम किया जाता है।

गर्भगृह की लंबाई चौड़ाई प्रायः छोटी ओर बराबर होती है। प्रदक्षिणा पथ से घिरे मन्दिरों में प्रायः अँधेरा रहता है, इस कारण उन्हें सांधार कहते हैं। गर्भगृह मन्दिर का हृदयस्थान है यह मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा हो जाने के बाद अत्यन्त पवित्र माना जाता है। विष्णु आदि की मूर्तियाँ प्रायः पिछली दीवार के सहारे रखी जाती हैं और शिवलिंग की स्थापना गर्भगृह के बीचों-बीच होती है। देवतत्त्व की दृष्टि से गर्भगृह अत्यन्त मांगलिक और महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। यही मन्दिर का ब्रह्मस्थान होता है। देवगृह के भीतरी भाग में दीवारों पर प्रायः और कोई रचना नहीं करते हैं किन्तु इसके अपवाद भी हैं। देवगृह की छत प्रायः सपाट होती है किन्तु शिखर सहित मंदिरों में इसका भी अपवाद देखा जाता है। आरंभकाल में देवगृह या मंडोवर की रचना संयत और सादी

होती थी। उस समय विशेष अलंकरणों का प्रयोग नहीं था। किंतु कालान्तर में देवगृह की भित्तियों पर नाना प्रकार के अलंकरण बनाए जाने लगे। देवगृह के द्वार सहित चारों ओर की भित्तियाँ चार भद्र कही जाती हैं। भद्र के तीन भाग करके यदि बीच का भाग कुछ निकाल दिया जाय तो वह तीन भागों में बँटा हुआ भद्र त्रिरथ कहलाता है। ऐसे ही पंचरथ, सप्तरथ नौरथ तक बनाए जा सकते हैं। बीच का निकला हुआ भाग या निर्गम रथ और दोनों कोनों के अंतः प्रविष्ट भाग प्रतिरथ कहलाते हैं। यदि निर्गम और प्रवेश वाले भागों की संख्या पाँच हुई तो बीच का भाग रथ, उसके दोनों ओर के भाग प्रतिरथ और दोनों कोनों के कोण रथ कहलाते हैं। उत्सेध, उदय या ऊँचाई में भी गर्भगृह के बाहर की ओर बहुत से अलंकरण बनाए जाते हैं; उनमें ऊपर नीचे दो जंघाएँ और उनके बीच की तीन पट्टियाँ कहलाती हैं। जंघाओं पर प्रायः स्त्री मूर्तियों का अंकन रहता है, जिन्हें प्रेक्षणिका, सुरसुन्दरी, अलस कन्या, अप्सरा आदि कई नाम दिए गए हैं। वे प्रायः नृत्य, नाट्य, संगीत और मिथुन श्रृंगार की मुद्राओं में अंकित की जाती हैं। देवगृह का उठान नीचे की खुरशिला से लेकर कलश तक, वास्तु और शिल्प के सुनिश्चित नियमों के अनुसार बनाया जाता है। उसमें एक-एक घर के पत्थरों के नाम, रूप या अलंकरण निश्चित हैं, किंतु उनके भेद भी अनन्त हैं। गर्भगृह प्रायः चौकोर होता है, किंतु चतुरस्र आकृति के अतिरिक्त आयताकार बेसर (द्वयस्र) अर्थात् एक ओर गोल तथा एक ओर चौकोर और परिमण्डल ये आकृतियों भी स्वीकृत हैं, किन्तु व्यवहार में बहुत कम देखी जाती हैं।

4.9.3 शिखर

संस्कृत में शिखर का शाब्दिक अर्थ 'पर्वत की चोटी' है किन्तु भारतीय वास्तुशास्त्र में उत्तर भारतीय मन्दिरों के गर्भगृह के ऊपर पिरामिड आकार की संरचना को शिखर कहते हैं। दक्षिण भारत में इसी को 'विमानम्' कहते हैं।

4.9.4 कलश

कलश का शाब्दिक अर्थ है- घड़ा। मन्दिरों के शीर्ष भाग अर्थात् गुम्बद पर स्थित होता है। इसके अतिरिक्त सनातन धर्म में सभी कर्मकांडों के समय उपयोग किए जाने वाले घड़े को भी कलश कहा जाता है। जो कांस्य, ताम्र, रजत, स्वर्ण या मृत्तिका का होता है तथा इसके ऊपर श्रीफल (नारियल) रखा जाता है। इसमें सभी देवताओं का स्थान माना जाता है।

१. नासदीय सूक्त किस वेद से सम्बन्धित है ?
२. देवालय शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख किस ब्राह्मण में मिलता है ?
३. मोक्ष प्राप्ति के मुख्य कितने मार्ग हैं ?
४. समराङ्गणसूत्रधार ग्रन्थ के रचयिता कौन हैं ?
५. मन्दिर वास्तु के प्रमुख अङ्गों के मान लिखिए।

4.10 गोपुर विधान

गोपुर जिसे विमानम भी कहते हैं। यह एक स्मारकीय अट्टालिका होती है, प्रायः शिल्प कला से सुसज्जित एवं अधिकतर दक्षिण भारत के मन्दिरों के द्वार पर यह सब स्थित होता है। यह हिन्दू मन्दिरों के स्थापत्य का प्रमुख अंग है। यह ऊपर किरीट कलश से शोभायमान होता है। यह मन्दिरों की चाहर दीवारी में बने द्वार का काम देते हैं।

मन्दिर वास्तु में गोपुर का अत्यधिक महत्व है। प्राचीन वास्तुशास्त्रकारों ने गोपुर की स्थापना के सन्दर्भ में अत्यधिक जोर देते हुये अपने ग्रन्थों में लिखा है। जैसे मयमतम् ग्रन्थ में आचार्य मय लिखते हैं-

अधुना गोपुराणां तु लक्षणं वक्ष्यते क्रमात्।
क्षुद्राल्पमध्यमुख्यानां हर्म्याणां स्वप्रमाणतः॥

मूलप्रासादविस्तारे सप्ताष्टनवभागिके।
दशैकादश भागे तु तत्तदेकांशहीनकम्॥

द्वारशोभादिविस्तारं गोपुरान्तं यथाक्रमम्।
क्षुद्राल्पयोः समुद्दिष्टं मध्यानां प्रविधीयते॥

पाँच प्रकार के गोपुरों का प्रमाण द्वार शोभा से प्रारम्भ करते हुये गोपुर तक द्वार का विस्तार इस क्रम से रखना चाहिये। प्रथम द्वार 'द्वारशोभा' का विस्तार प्रधान प्रासाद के विस्तार के सात भाग करने पर उससे एक भाग कम अर्थात् छठवे भाग के बराबर रखना चाहिये। (दूसरे द्वार) का विस्तार मूल प्रासाद के आठ भाग करने पर उससे एक भाग कम (सात भाग), (तीसरे द्वार) का विस्तार मूल भवन के विस्तार के नौ भाग करने पर उससे एक भाग कम (आठ भाग), (चौथे द्वार) का विस्तार मूल प्रासाद के दस भाग करने पर उससे एक भाग कम (नौ भाग) तथा (पाँचवें द्वार गोपुर) का विस्तार मूल प्रासाद के ग्यारह भाग करने पर उससे एक भाग कम (दस भाग) रखना चाहिये। ये प्रमाण क्षुद्र एवं अल्प प्रासादों के गोपुरों के होते हैं। (मध्यम आकार के देवालयों में) द्वारशोभा से गोपुर तक पाँच द्वारों के क्रमशः मान इस प्रकार है-

मूल प्रासाद की चौड़ाई के चार भाग करने पर तीसरे भाग के बराबर, पाँच भाग करने पर चौथे भाग के बराबर, छः भाग करने पर पाँचवें भाग के बराबर, सात भाग करने पर छठवें भाग के बराबर एवं आठ भाग करने पर सातवें भाग के बराबर विस्तार रखना चाहिये।

त्रिभागकांशमध्यं च द्विभागं स्यात्रिभागिके॥
चतुर्भागे त्रिभागं तु पञ्चांशे चतुरंशकम्।
द्वारशोभादिविस्तारं गोपुरान्तं क्रमेण तु ॥६॥

द्वारशोभा से लेकर गोपुरपर्यन्त विस्तार उत्तम (बड़े) प्रासादों में विस्तारमान इस प्रकार क्रमशः रक्खा जाता है। (प्रधान प्रासाद के विस्तार के) तीन भाग में से एक भाग, डेढ़ भाग, दो भाग, चार भाग में तीन भाग या पाँच में से चल भाग के बराबर रखना चाहिये। अब विस्तार को हस्त-माप में वर्णित किया जा रहा है। यदि प्रमुख देवालय छोटा हो तो द्वारशोभा आदि द्वारों का प्रमाण हस्त माप से प्रारम्भ कर उसे एक-एक हाथ बढ़ाते हुये सोलह हाथ तक रखना चाहिये। (मध्यम आकार के देवालय में) द्वारशोभा आदि पाँच द्वारों में से एक-एक के तीन प्रकार के मान होते हैं। प्रथम द्वार द्वारशोभा से तीन हाथ मान से प्रारम्भ करते हुये दो-दो हाथ बढ़ाते हुये इकतीस हाथ तक ले जाना चाहिये (प्रमुख देवालय के उत्तम आकार के होने पर) नौ हाथ से प्रारम्भ करते हुये सैतीस हाथ तक दो-दो हाथ बढ़ाते हुये कुल पन्द्रह प्रकार के प्रमाण प्राप्त होते हैं। ये विस्तार-प्रमाण पाँचों द्वारों में द्वार शोभा से प्रारम्भ होकर गोपुर पर्यन्त रखे जाते हैं। मयमतम् नामक ग्रन्थ में पाँच प्रकार के गोपुरों का उल्लेख मिलता है-

4.11 सारांश

प्रिय अध्येताओं इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपने जाना कि मन्दिर किसे कहते हैं तथा मन्दिर शब्द की उत्पत्ति कैसे हुयी साथ ही आपने यह भी जाना कि मन्दिर की मानव जीवन में क्या उपयोगिता होती है। देवताओं का निवास किस स्थान पर होता है, कौनसी भूमि मन्दिर बनाने के लिये प्रशस्त होती है एवं कौनसी अप्रशस्त। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपने यह भी जाना कि मन्दिर वास्तु के प्रमुख कौन-कौन से अङ्ग होते हैं तथा मन्दिर निर्माण में उनका क्रम क्या है। प्रिय अध्येताओं अब आपके मन में मन्दिर वास्तु के विविध अङ्गों से सम्बन्धित जितने भी प्रश्न थे उनका समाधान निश्चित ही हो गया होगा।

4.12 पारिभाषिक शब्दावली

- देवालय- मन्दिर, पूजास्थल, देवस्थल
- जगती- मन्दिर निर्माण के लिये बनाया गया ऊंचा चबूतरा।
- गर्भगृह - मन्दिर के जिस भाग में मूर्ति स्थापित की जाती है।
- गोपुर- स्मारकीय अट्टालिका
- शिखर- देवालय का शीर्ष भाग

4.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

- ऋग्वेद
- शतपथब्राह्मण में
- तीन
- आचार्य मय
- जगती, अधिष्ठान, गर्भगृह, शिखर, ग्रीवा, आमलक, कलश, ध्वज

4.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

- प्रासादमण्डनम् - चैखम्बा प्रकाशन
- विश्वकर्मप्रकाश - चैखम्बा सुरभारती प्रकाशन
- बृहत्संहिता - चैखम्बा विद्याभवन वाराणसी
- बृहद्वास्तुमाला - चैखम्बा प्रकाशन
- बृहज्जातक - चैखम्बा प्रकाशन
- मयमतम् - चैखम्बा प्रकाशन
- समरांगणसूत्रधार - चैखम्बा प्रकाशन